उपोद्घात

प्रारम्भ

मांडूक्योपनिषद् माण्डूक्यब्राह्मणान्तर्गत है। इस में विशेष रीति से ओम् का वर्णन है।

ओम् शब्द

अवतेष्टिलोपश्च। उणादिसूत्र -१।१४। से मन् प्रत्यय और टिलोप होकर 'अव रक्षणे' धातु से ओम् शब्द सिद्ध होता है। ओंकार शब्द की यह सिद्धि व्याकरण के अनुसार है परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थ इसकी सिद्धि दूसरे प्रकार करते हैं। गोपथ ब्राह्मण (प्रपा० १ का० २६) में लिखा है:— "को धातुरित्याप्लृधातुः × × × तस्मादपि ओंकारः सर्वमाप्नोतीत्यर्थः" ॥ अर्थात् जो सर्वत्र व्यापक हो वह, ओंकार है। इससे भी भिन्न ओंकार शब्द की सिद्धि स्मृतिकार करते हैं। उनका कथन है कि अकार, उकार और मकार से मिलकर ओम् बनता है यथा "अकारञ्चाप्युकारञ्च मकारञ्च प्रजापतिः ॥ (मनुस्मृति२।७६) मांडूक्योपनिषद् में त्रिमात्रिक ओम् की व्याख्या स्मृतिकार की बात मान कर ही की गई है।

वेद और ओम्

यजुर्वेद अध्याय २।१३ में है "ओम्प्रतिष्ठ"। अर्थात् ईश्वर मेरे हृदय में प्रतिष्ठित होवें। इसी वेद के ४० वें अध्याय में भी ओम् का वर्णन आया है:— (१) ओं क्रतोस्मर तथा (२) ओम्खं ब्रह्म ॥ अर्थात (१) हे जीव ओम् का स्मरण कर (२) ईश्वर महान और व्यापक है।

ओमभ्यादाने ॥ (अष्टाध्यायी ८।२।८७) के नियम से, यज्ञ

वेद मन्त्रों के प्रारम्भ और अन्तमें ओम्

में मन्त्रों का उच्चारण करते समय, ओम् शब्द मन्त्र के प्रारम्भ में जोड़ दिया जाता है और 'प्रणवष्टेः' (अष्टा० ८। २। ८९) के नियम से मन्त्र के "टि" की जगह ओम् हो जाता है। "अचोऽन्त्यादि टि।" (अष्टा० १। १। ६४) के नियम से अचों में जो अन्तिम अच् जिस समुदाय के आदि में हो वह समुदाय "टि" संज्ञक होता है, जैसे वेद की इस प्रतीक में "अपां रेतांसि जिन्वति" की जगह 'अपां रेतांसि जिन्वतोम्' होजाता है। आदि और अन्त में ओम् के बढ़ाने से ऋग्वेद की पहली ऋचा इस प्रकार पढ़ी जायगी:—

ओं अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमोम्॥

मनुष्यजीवन के आदिऔर अन्त में भी ओम्

जातकर्म संस्कार में जो बालक के उत्पन्न होने के बाद ही किया जाता है बालक की जिह्वा पर ओम् लिखने का विधान है और मनुष्य जब मरता है तब अन्त में उसे भी ओम् के उच्चारण करने की शिक्षा यजुर्वेद के ४० वें अध्याय में "ओंक्रतो स्मर" दी गई है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य को अपना जीवन ओम् से प्रारम्भ करके ओम् के स्मरण के साथ ही समाप्त करना चाहिये।

ओम् का समस्त ब्रह्मांड से सम्बन्ध

किस प्रकार ओम् का सम्बन्ध समस्त ब्रह्माण्ड से है यह प्रगट करने के लिये नीचे एक चित्र दिया जाता है जिस से स्पष्ट हो जायगा कि ओम् की प्रत्येक मात्रा का सम्बन्ध किस किस से है।

संख्या	लोक	वेद	व्याहृति	मात्रा	अवस्था ४ पाद	विश्वात्मा के ४ रूप	कोश	शरीर	फल	विशेष
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११
(१)	पृथिवी	(१) ऋक्	भूः	(३) अ	❀ जागृत प्रथम पाद	वैश्वानर	अन्नमय	स्थूल	१ आदि २ व्याहृति	❀ The consciousness working in the स्थूलशरीर
(२)	अन्तरिक्ष	यजु	भुवः	उ	स्वप्न द्वि० पाद	तैजस	प्राणमय मनोमय विज्ञानमय	सूक्ष्म	१ उत्कर्ष २ उभयप्रपंच	The consciousness working in the सूक्ष्मशरीर
(३)	(२) द्यौ	साम	स्वः	म (४)	सुषुप्त तृ० पाद	प्राज्ञ	आनन्दमय	कारण	१ ज्ञानप्राप्ति २ आत्ममयत्व	The consciousness working in the कारणशरीर from which it can make no impression on the physical brain
(४)	+	+	+	अमात्र	† तुरीय	शिव	+	+	+	† That is a state beyond the limitation of the five fold पंचभौतिक world

१—ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है:—३ वेद उत्पन्न होते हैं। (१) अग्नि से ऋग्वेद, (२) वायु से यजुर्वेद, (३) आदित्य से सामवेद।

उन वेदों के तपाने से तीन लोक उत्पन्न होते हैं:—

(१) ऋग्वेद से 'भूः' (२) यजुर्वेद से 'भुवः' (३) सामवेद से 'स्वः'।

(३) इन तीनों लोकों (व्याहृतियों) के तपाने से तीन वर्ण उत्पन्न होते हैं:—(१) भू से अ (२) भुवः से उ (३) स्वः से म। इन तीनों के मिलने से ओम् बन जाता है। †

२—ऋग्वेद का सम्बन्ध पृथिवी से यजुर्वेद का सम्बन्ध अन्तरिक्ष से और सामवेद का सम्बन्ध द्यौलोक से है।

---

† त्रयो वेदा अजायन्त। ऋग्वेद एवाग्नेरजायत। यजुर्वेदो वायोः। सामवेद आदित्यात्। तान् वेदानभ्यतपत्। तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रीणि शुक्राण्यजायन्त। भूरित्येव ऋग्वेदादजायत। भुवरिति यजुर्वेदात्। स्वरिति सामवेदात्॥ तानि शुक्राण्यभ्यतपत्। तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वर्णा अजायन्त। अकार उकारो मकार इति। तानेकधा समभरत्। तदेतद् ओमिति। (ऐतरेय ब्रा० ५ पँचमिका खण्ड ३२)।

नोट—इस वाक्य में जो तीन वेदों का वर्णन है इसका तात्पर्य यह नहीं हो सकता कि चौथा अथर्ववेद उत्पन्न नहीं हुआ किन्तु विषय की दृष्टि से उसका समावेश उन्हीं विषयों में होता है जो पहले ३ वेदों के हैं इसीलिये उसके पृथक वर्णन की प्रायः प्रथा नहीं है।

३—ओम् तथा उद्गीथ पर्यायवाचक शब्द हैं—छान्दोग्योपनिषद् में एक जगह कहा गया है कि जो उद्गीथ है वही प्रणव (ओम्) है और जो प्रणव है वही उद्गीथ है।† इसी उपनिषद् के प्रारम्भ ही में कहा गया है कि इन ५ भूतों का रस पृथिवी है।❀ पृथिवी का रस जल है और जलों का रस औषधि है, औषधियों का रस पुरुष है, पुरुष का रस वाणी है। वाणी का रस ऋचायें हैं, ऋचाओं का रस साम है और साम का रस उद्गीथ (ओम्) है।❀

४—ओंकार की महिमा प्रकट करते हुये गोपथ ब्राह्मण में एक जगह कहा गया है:—जो ओंकार को नहीं जानता वह वेद के वश में नहीं होता। और जो जानता है वह ब्रह्म (ईश्वर तथा वेद दोनों) के वश में होता है। इसलिये ओंकार ऋग्वेद के अध्ययन में ऋग्रूप होता है। यजु के अध्ययन में यजुरूप, साम के अध्ययन में सामरूप, सूत्र में सूत्र रूप, ब्राह्मण में ब्राह्मण ग्रन्थरूप, श्लोक में श्लोकरूप, ओम् के अध्ययन में

---

† य उद्गीथः स प्रणवः यः प्रणवः स उद्गीथः॥ छा० १।५।१

❀ पृथिवी में अन्य चारों भूतों के गुण शब्द, स्पर्श रूप और रस भी अपने गुण गन्ध के सिवा होते हैं इसलिए इसे सब भूतों का रस कहा गया है।

❀ एषां भूतानां पृथिवी रसः। पृथिव्या आपो रसः। अपामोषधयो रसः। औषधीनां पुरुषः रसः। पुरुषस्य वाग्रसः। वाच ऋग्रसः। ऋचः साम रसः। साम्न उद्गीथो रसः॥ छा० १।१।२

ओंकार रूप होता है ॥ †

प्राचीन काल से ओम् संसारव्यापक शब्द के रूप में अब तक प्रचलित चला आ रहा है। सीमिटिक जातियों में इसका उच्चारण एमिन (Amen) और अरब की जातियों में इसका रूप "आमीन" (آمین) हो गया है।

जिन भूर्भुवः स्वः से ओम की उत्पत्ति वर्णन की जा चुकी है इनके अर्थों से प्रकट होता है कि ओम् परब्रह्म परमेश्वर के स्वरूप का भी द्योतक है। 'भू सत्तायाम्' धातु से भूः के अर्थ सत् हैं। 'भुवः अवचिन्तने' से भुवः चित् को कहते हैं। स्वः नाम आनन्द का है। इस प्रकार भूर्भुवः स्वः के अर्थ सच्चिदानन्द होते हैं। ओम् जहां ईश्वर का नाम है वहां उससे उपरोक्त प्रकार से ईश्वर का सच्चिदानन्दस्वरूप होना भी प्रकट होता है, यही ओम की विशेषता है।

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल ही में एक मन्त्र इस प्रकार से है:—

ऋग्वेद में वाणी और ओंकार का विवरण

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेंगयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥

(ऋ० १। १६४। २५)

† यो ह वा एतमोङ्कारं न वेद वंशः स्यादिति। अथ य एवं वेद ब्रह्मवशः स्यादिति। तस्मादोङ्कार ऋचि ऋग्भवति। यजुषि यजुः। साम्नि साम। सूत्रे सूत्रम्। ब्राह्मणे ब्राह्मणम्। श्लोके श्लोकः। प्रणवे प्रणवेति ॥ (गोपथ० प्रपाठक १ ब्राह्मणं २३)

मन्त्र का भाव यह है कि वाणी के ४ पाद हैं जिनमें से तीन (परा, पश्यन्ती, मध्यमा) गुहा में (नाभि से कण्ठ तक) रहते हैं, उन्हें केवल मननशील विद्वान ही जाना करते हैं अन्य (सर्वसाधारण) नहीं, तुरीय चौथी (वैखरी) वाणी मनुष्य बोला करते हैं।

वाणी का प्रादुर्भाव कहां से और किस प्रकार होता है, यह

परावाणी जानने के लिये आवश्यक है कि यह जान लिया जावे कि नाभि शरीर का केन्द्र और अत्यन्त आवश्यक केन्द्र है। गर्भस्थ बालक के जीवन का आधार नाभि ही हुआ करती है। इसी के द्वारा वह पुष्ट हुआ करता है, और शरीर के विकास के लिये उपयोगी साधनों को ग्रहण और धारण किया करता है। शरीर में, आत्मा की उपस्थिति और संपर्क से, जो शक्ति, शरीर के अन्तर्गत, सभी कारोवार चलाने के लिये, शरीर में उत्पन्न हुआ करती और प्रत्येक अन्तः और वाह्य इन्द्रियों को, इन्द्रियत्व प्रदान किया करती है, उसी शक्ति से एक स्पन्दन अथवा विचार स्फूर्ण हुआ करता है। वाणी की दुनिया में उसका नाम व्यापकता

अकार आदि गुणों से अकार हुआ करता है। इस स्वाभाविक सहज आत्मसमुद्भूता शक्तिका उद्गम नाभिप्रदेश ही हुआ करता है। और शरीर के निर्माता, एक एक कण (Call) में भर जाया करता है। इस चेतना के प्रकाश रूप, शक्ति से शरीर के आन्तरिक और वाह्य प्रत्येक कण (शरीरावयव) स्पन्दनशील और स्फूर्तिमान हो जाते हैं। यही शक्ति, विचारान्दोलन

(Thought vibration) के रूप में परिवर्तित होकर उदय होने वाली वर्णात्मक वाणी का कारण हुआ करती है और परा वाणी कही जाती है।

पश्यन्ती और मध्यमा वाणी

नाभि प्रदेश से नाभिस्थ प्राण के आश्रय से उठकर उपर्युक्त परा वाणी हृदयस्थ प्राण को देखती अर्थात् उसका आश्रय, उन्मुख होने के लिये, लेती है, तब उसका नाम 'पश्यन्ती वाणी' हुआ करता है। यहां से कण्ठ प्रदेश तक पहुँचने के मार्ग में इस वाणी और बुद्धि (अर्थात् मस्तिष्क से आने वाली) वृत्ति का संगम होता है। पश्यन्ती वाणी और इस वृत्ति के संगम से, यह संगम, संकल्पमय वाणी के रूप में परिवर्तित होकर, मध्यमा वाणीका रूप धारण कर लिया करता है।

उकार

पश्यन्ती और मध्यमा वाणी उकार प्रदेश की सीमा में रहा करती हैं।

ये वाणी के तीन भेद हैं जिनके लिये वेदमन्त्र में कहा गया है कि उनका स्थान 'गुहा' वह आकाश, जो नाभि और कण्ठ प्रदेश के मध्यवर्ती है, होता है और जिनके लिये शिक्षा दी गई है कि उनका ज्ञान मननशील विद्वानों ही को हुआ करता है।

वैखरी वाणी और मकार

उपर्युक्त गुहाप्रदेशस्थ वाणी, अथवा यों कहिये कि संकल्पमय वाणी के रूप में परिवर्तित स्पन्दन और विचार-स्फूर्ण कण्ठस्थ प्राण के आश्रय से समीपवर्ती मर्म-व्यूह (Nervous system) के क्रियातंतुओं (Motion nerves)

को संचालित करके वर्णात्मकशरीर के रूप में आजाया करते हैं इस अवस्था को प्राप्त, गुह्यप्रदेशस्थ वाणी, वैखरी वाणी कही जाया करती है। यहां मकार की सीमा समाप्त हो जाती है और वाणी भी पूरी होकर कण्ठ के बाद ऊपर हुई वाणी खुले हुये ओष्ठों को बन्द कर दिया करती है। इस प्रकार नाभि से उठा हुआ नाद उन्नत होता हुआ सार्थक वाणी के रूप में परिवर्तित हो जाता है। और ओंकार की तीनों मात्राओं की पूर्ति भी हो जाती है। यह बात ओंकार के उच्चारण से भी प्रकट हो जाती है।

माण्डूक्योपनिषद और ईश्वर प्राप्ति

पिछले पृष्ठों में दिये हुये चित्र से प्रकट है कि प्रथम तीन संख्याओं (१, २, ३) के सम्मुख दिये हुये प्रत्येक वस्तु में स्थूल से सूक्ष्म, कार्य्य से कारण अथवा बाहर से भीतर की ओर जाने की प्रवृत्ति, पाई जाती है। लोक, वेद, व्याहृति और अवस्थायें इत्यादि सभी इस बात के द्योतक हैं।

ईश्वर की ओर चलने का वास्तव में क्रम ही यह है। वेद और उपनिषदों में जगह जगह में यह शिक्षा दी हुई मिलती है कि मनुष्य आत्मस्थ होकर ईश्वर को साक्षात् किया करता है। आत्मा शरीर के भीतर है, इसलिये भीतर चलकर ही कोई आत्मस्थ हो सकता है। उसी आत्मस्थ हो जाने को तुरीयावस्था कहा जाता है। इसीलिये उपनिषद् में जागृत से स्वप्न, स्वप्न से सुषुप्ति और सुषुप्तावस्था से तुरीया की ओर चलने का विधान है और इसी क्रम से उनका विवरण भी दिया गया है।

मांडूक्योपनिषद्

ओमित्येतदक्षरमिदँ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्य-दिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव ॥ १ ॥

अर्थ—(ओम् इति) ओम् (एतद्) यह (अक्षरम्) अक्षर हैं (तस्य) उस (ओम्) का (इदम) यह (सर्वम्) सब (उपव्याख्यानम्) फैलाव है। (भूतम्) भूत (भवत्) वर्त्तमान (भविष्यत्) और भविष्यत् (इति) यह (सर्वम्) सब (ओंकार:) ओंकार (एव) ही है (च) और (यत्) जो (अन्यत्) इस के सिवा (त्रिकाल) तीन काल से (अतीतम्) बाहर है (तद्, अपि) वह भी (ओंकार, एव) ओंकार ही है ॥ १ ॥

व्याख्या—ओम् ईश्वर का सर्वश्रेष्ठ नाम है। वाचक (नाम) और वाच्य (नामी) में अभेद होता है इसलिए ओम् के इस सब के फैलाव होने का अर्थ यह है कि यह समस्त ब्रह्माण्ड ईश्वर ही का फैलाव है। दृश्य ब्रह्माण्ड वास्तव में ईश्वर के कतिपय गुणों का प्रदर्शनमात्र है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है:—यदि हम किसी वस्तु को देखते हैं तो प्रश्न होता है कि हम क्या देखते हैं ?

उदाहरण के लिए एक पुस्तक को लो— सभी कहते हैं कि वे उसे देखते हैं, अब विचार करो कि वे क्या देखते हैं ? पुस्तक के देखने का अर्थ दो दृश्यों का देखना है:—

(१) पुस्तक का आकार कि यह कितनी लम्बी चौड़ी और मोटी है।

(२) पुस्तक का रूप कि वह किस रंग की है।

स्पष्ट है, कि ये दिखाई देने वाली दोनों चीजें पुस्तक के गुण हैं, पुस्तक इनसे भिन्न एक वजन वाली चीज इनसे पृथक् है और वही वस्तुतत्त्व है और अदृश्य है इसीलिए कहा जाता है कि प्रत्यक्ष केवल गुणों का होता है गुणी का नहीं। जब हम सूर्य्य, चन्द्र तथा अन्य नक्षत्रादि, जगत में उत्पन्न पदार्थों को देखते हैं तो उन सब में जहां उनके वाह्य दृश्य दिखलाई देते हैं वहां उनमें जो वस्तुतत्व (गुणी) है उसका भी ज्ञान होता है और उनसे, स्पष्ट रीति से, ईश्वर की रचना का भी, किस प्रकार उसने इन पदार्थों को रचा, ज्ञान होता है। जगत का प्रत्येक पदार्थ उस (ईश्वर) की रचना है और अस्ल में उसके रचनारूप गुण ही का यह विस्तार है जिसे हम ब्रह्माण्ड कहते हैं। प्रकृति तो विकृत होकर वस्तुओं के वस्तुतत्व (Thing in itself) के रूप में रहती है और अदृश्य ही रहती है। दिखाई देने वाला संसार उसका वाह्य दृश्यमात्र है जिसने ईश्वर की रचनारूप गुण के फैलाव से वर्तमान रूप धारण किया हुआ है। फिर उपनिषद्वाक्य में कहा गया है कि भूत, भवत् और भविष्यत् और तीनों कालों से

जो कुछ बाहर है वह भी सब ओंकार ही है।

निरुक्त के परिशिष्ट में एक जगह* भूत, भविष्यत् और सर्वम् शब्दों की, महत् के नामों में, गणना की गई है परंतु यहां ये शब्द कालवाचक ही हैं। प्रकृति संसार में दो रूप में रहा करती है एक उसका शुद्ध (कारण) रूप जिसे सांख्य के आचार्य कपिल ने सत, रज और तम की साम्यावस्था कहा है और दूसरा उसका विकृत रूप। पहला रूप जिसे वेद में असम्भूति† कहा गया है उसका कुछ अनुमान हम शरीर से कर सकते हैं। यह शरीर नाममात्र के लिए शरीर कहा जाता है असल में मूल प्रकृति आकाशवत समस्त ब्रह्माण्ड में और उस से बाहर भी फैली हुई है। जिसप्रकार, घड़े के भीतर के आकाश को घटाकाश और मठ (घर) के भीतर के आकाश को मठाकाश कहते हैं। यद्यपि ये आकाशांश ब्रह्माण्ड में व्याप्त आकाश से पृथक् नहीं परन्तु घट और मठ की अपेक्षा से इन्हें घटाकाश और मठाकाश कहते हैं इसी प्रकार मूल प्रकृति का वह अंश जो किसी व्यक्ति के शरीर के भीतर हुआ करता है कारणशरीर कहाता है यद्यपि वह प्रकृत्यंश सर्वत्र व्याप्त मूलप्रकृति से पृथक् नहीं परन्तु मनुष्यों के शरीरों की अपेक्षा से उसे कारणशरीर कहा करते हैं। जिसे ब्रह्माण्ड कहते हैं वह प्रकृति की विकृत अवस्थामात्र है और त्रिकाल का प्रयोग भी उसी के लिए सीमित है। यहां एक बात याद

* निरुक्त परिशिष्ट अ० १४ खं० १०

† यजुर्वेद अध्याय ४० । ९

रखनी चाहिए कि समय और काल में भेद है। समय सादि और सान्त होता है परन्तु काल अनादि और अनन्त होता है। समय की उत्पत्ति सूर्य की उत्पत्ति से प्रारम्भ होती है। वर्ष, महीने, दिन आदि ये विभाग भी समय ही के हैं और भूत भविष्यत तथा वर्तमान ये विभाग भी समय ही के हैं परन्तु काल इससे पहले भी रहता है इसलिए ब्रह्माण्ड जो प्रकृति का दूसरा और विकृत रूप है तीन काल के अन्दर समझा जाता है परन्तु मूलप्रकृति ब्रह्माण्ड से बाहर भी है इसलिए उसे उपनिषद् के इस वाक्य में त्रिकालातीत अर्थात् तीनों कालों से बाहर कहा गया है। प्रकृति सूर्य-चन्द्र आदि की उत्पत्ति से पहले भी रहती है जो तीनों कालों से बाहर की अवस्था है इसलिए उसे उचित रीति से त्रिकालातीत कहा गया है।*

उपनिषद्वाक्य में तीनों कालों के अन्तर्गत रहने वाले ब्रह्माण्ड रूप विकृति और इनसे बाहर रहने वाली प्रकृति को ओंकार ही ही कहा गया है। इस प्रकार प्रकृति और विकृति सब को ओंकार ही कहने का कारण ईश्वर का सर्वव्यापकत्व है। यह बात एक उदाहरण से भली भाँति समझी जा सकती है। कल्पना करो कि लोहे का एक गोला है जिसे अग्नि से इतना तपाया गया है कि वह लाल होकर अग्नि से दहक रहा है; अब इस गोले को लोहे

---

* उपनिषद् के इस वाक्य में काल शब्द का प्रयोग समय ही के लिए किया गया है।

का गोला भी कह सकते हैं क्योंकि वह वास्तव में लोहे का है और यदि उसे अग्नि का गोला कहें तब भी ठीक है क्योंकि उसे छूते ही हाथ जलने लगता है इसी प्रकार ब्रह्माण्ड और उससे बाहर स्थित प्रकृति को गोलास्थानी समझें और उसमें व्यापकत्व से ओतप्रोत ईश्वर को अग्नि स्थानी—तो उसे भी चाहे प्रकृति का गोला कहें तो भी ठीक है और यदि यह कहें कि ईश्वररूपी अग्नि का गोला है तब भी ठीक है। यही भाव इस मन्त्र ब्रह्माण्ड को ओंकार कहने का है ॥ १ ॥

सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात् ॥२॥

अर्थ—(हि) निश्चय (एतत्) यह (सर्वम्) सब (ब्रह्म) ब्रह्म है (अयम्) यह (आत्मा) आत्मा (ब्रह्म) ब्रह्म है (सः) वह (अयम्) यह (आत्मा) आत्मा (चतुष्पात्) चार पाद वाला है ॥ २ ॥

व्याख्या—इस वाक्य में ३ बातें वर्णित हैं:—

(१) यह सब (ब्रह्माण्ड) ब्रह्म है (२) यह आत्मा (ईश्वर) ब्रह्म (महान) है (३) ब्रह्म के (४) पाद हैं।

पहली बात—ब्रह्माण्ड को ब्रह्म कहना लाहे के गोले को उसमें व्याप्त अग्नि कहने के सदृश है जैसा पहले वाक्य की व्याख्या में कहा जा चुका है।

दूसरी बात—आत्मा शब्द का जीव और ईश्वर दोनों के अर्थों में आना सर्वसम्मत सिद्धान्त है। यहां आत्मा ईश्वर के अर्थों में और उसको ब्रह्म=बड़ा या महान कहा गया है।

तीसरी बात—उस ईश्वर को चार पाद वाला कहा गया है। ४ पाद का तात्पर्य जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय इन चार अवस्थाओं से है। जिस प्रकार जीव इन चार अवस्थाओं में रहा करता है उसी प्रकार ब्रह्म (ईश्वर) से भी इन चार अवस्थाओं का सम्बन्ध जोड़ा गया है। प्रकृति तीन अवस्थाओं में रहा करती है। उसका पहला और असली रूप उसका कारणरूपमें रहना है। दूसरी अवस्था वह है जिस में प्रकृति विकृत होकर सूक्ष्म भूतों के रूपों में रहा करती है जिन का प्रारम्भ महत्तत्व से होता है और जिन की समाप्ति १० इन्द्रियों तक हो जाती है। तीसरी अवस्था प्रकृति की विकृत स्थूल अवस्था है जिसमें पंचभूत और उनसे उत्पन्न समस्त ब्रह्माण्ड का समावेश है।

जिस समय ब्रह्म अपने व्यापकत्व से, कारणरूप प्रकृति में व्याप्त रहता है उसको यह सुषुप्तावस्था कही जाती है जिस समय वह सूक्ष्म भूतों में व्याप्त रहता है तब यह उसकी स्वप्न अवस्था समझी जाती है और जब स्थूल भूतों और ब्रह्माण्ड में ओतप्रोत होता है तब उसकी यह जागृतावस्था बतलाई जाती है। इन तीनों अवस्थाओं को ब्रह्म का शबल रूप कहते हैं। शबल के अर्थ हैं रंग बरंग वाला अर्थात व्यक्त। इन अवस्थाओं को इसीलिए शबल कहते हैं कि इनमें ब्रह्म प्रकृति की भिन्न भिन्न अवस्थाओं के अनुसार अपने गुणों से व्यक्त हुआ करता है। इसी अवस्था के लिए उपनिषद् में एक जगह कहा गया है कि जिस प्रकार अग्नि एक होते हुए भुवन में प्रविष्ट होकर प्रत्येक रूप के प्रतिरूप हो जाती

हैं उसी प्रकार ब्रह्म भी एक होते हुए व्यापकत्व से प्रत्येक रूप के प्रतिरूप हो जाता है।*

ब्रह्म के इस शवल रूप के सिवा चौथा तुरीयस्थानी उसका अपना शुद्ध रूप है† और यही उसका यथार्थ रूप है इसी रूप के लिए, जहां तक मनुष्यों द्वारा उसके ज्ञानके प्राप्त करने का सम्बन्ध है, उपनिषद् में नेति नेति का आदेश किया गया है। ब्रह्म के चार पादों के सम्बन्ध में यह प्रारम्भिक ज्ञातव्य बातें हैं। विस्तार के साथ उनका वर्णन आगे के पृष्ठों में मिलेगा ॥ २।

जागरितस्थानो वहिःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥ ३ ॥

अर्थ—(जागरितस्थानः) जाग्रत स्थानवाला (वहिःप्रज्ञः) बाहर बुद्धि वाला (सप्ताङ्गः) सात अंग वाला (एकोनविंशति, मुखः) उन्नीस मुख वाला (स्थूल, भुक्) स्थूल भोगी (वैश्वानरः) वैश्वानर (प्रथमः पादः) पहिला पाद है। ॥ ३ ॥

व्याख्या—जागृत अवस्था में जीवात्मा की प्रज्ञा स्थूल जगत में काम करती है और उसका कार्यक्षेत्र पांच–इन्द्रिय–विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध) सूक्ष्म और कारणशरीर कुल

---

* अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥
कठोपनिषद् २। ६

† ब्रह्म के शवल रूप काल की सीमा में हैं उसका शुद्ध रूप कालातीत होता है।

सात अंग होते हैं और इन में कार्य करने के साधन ५ प्राण, १० इन्द्रिय और ४ अन्तःकरण कुल १९ शरीरावयव होते हैं जिन से स्थूल जगत् के विषयों को ग्रहण किया जाता है। इसी प्रकार ईश्वर से संबन्धित जागृत अवस्था वह समझी जाती है जब वह अपने (अलंकारिक) विराट शरीर में, जो स्थूल और सूक्ष्म भूतों तथा कारणरूप प्रकृति से पूरा हुआ करता है, काम किया करता है और उसके कार्य के साधन भी, मनुष्यशरीरवत, उस के विराट-शरीरस्थ इन्द्रिय और अंतःकरण आदि हुआ करते हैं। यहां यह बात समझ लेने के योग्य है कि मनुष्य-शरीर में वह सब कुछ होता है जो शरीर से बाहर ब्रह्मांड में हुआ करता है। इसको निम्न भांति समझ लेना चाहिये:—

	ब्रह्मांड में उपस्थित वस्तुएँ			शरीर में उनके नाम
(१)	कारणरूप प्रकृति		(१)	कारणशरीर
(२)	महत्तत्त्व	सूक्ष्म प्रकृति	(२)	बुद्धि
(३)	अहंकार		(३)	अहकार
(४)	५ तन्मात्र (शव्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध)		(४) सूक्ष्म शरीर	इन्द्रियविषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध)
(५)	मन		(५)	मन
(६)	दशेन्द्रिय		(६)	दशेन्द्रिय
(७)	आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी पंच स्थूलभूत		(७)	स्थूल शरीर

ब्रह्मांड में जो महत्तत्वादि हैं वे सभी उन उन प्रकार की प्रकृतियों के ढेर हैं जिनमें से कुछ शरीर में जाकर उसी उसी प्रकार के इन्द्रिय का रूप हो जाते हैं। जैसे—महत्तत्वरूपी प्रकृति के ढेर में से कुछ अंश मनुष्यशरीर में जाता है तो उसका नाम बुद्धि हो जाता है, इसी प्रकार अहंकार, मन और प्रत्येक इन्द्रिय-रूपी प्रकृति के ढेर में से जितना-जितना अंश मनुष्यशरीर में जाता है उस उस का नाम वही मन, अहंकार और कान, नाक, और आंख आदि इन्द्रिय हो जाता है। अस्तु, इस प्रकार ब्रह्माण्ड में जब ईश्वर के सर्वव्यापकत्व और सर्वशक्तिमत्त्व से गति-पूर्ण ब्रह्माण्ड का काम जारी रहता है तब यह ईश्वर की जागृत अवस्था कही और समझी जाती है। इस अवस्था में उसे वैश्वा-नर इसलिए कहते हैं कि वह जगत में विद्यमान होते हुए सब को गति देता और नियंत्रण में रखता है। जगत की प्रत्येक वस्तु अपना काम चलाने के लिए शक्ति उसी से प्राप्त करती है* यह ब्रह्म का पहला पाद है। पाद शब्द के अर्थ सत्ता की अवस्था के हैं और यह शब्द गत्यर्थक पद धातु से बनता है॥ ३॥

---

* निरुक्त में वैश्वानर की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है:—

"वैश्वानरः कस्माद्विश्वान् नरान् नयति विश्व एनं नरा नयन्तीति वापि वा विश्वान् एव स्यात्प्रत्यृतः सर्वाणि भूतानि॥ (निरुक्त ७।२१)

अर्थात् वैश्वानर वह है जो सब जीवों का नियन्ता है वा जो सब में व्यापक होकर सब को चला रहा है।

स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्त-भुक् तैजसो द्वितीयः पादः ॥ ४ ॥

अर्थ—(स्वप्न, स्थानः) स्वप्न स्थानवाला (अन्तः, प्रज्ञः) भीतर बुद्धि वाला (सप्ताङ्गः) सात अंग वाला (एकोनविंशतिः मुखः) १९ मुखवाला (प्रविविक्त, भुक्) सूक्ष्म भोगी (तैजसः) तैजस (द्वितीयः, पादः) दूसरा पाद है ॥ ४ ॥

व्याख्या—जिस प्रकार स्वप्न अवस्था में इन्द्रियों का काम बंद रहता है उसी प्रकार ब्रह्म की स्वप्न अवस्था वह है जिस में वह अपने सर्वव्यापकत्व और सर्वशक्तिमत्व से सूक्ष्म भूतों में व्याप्त होकर अपने स्वाभाविक ज्ञान और कर्म से उन्हें इस योग्य बनाता है कि वे स्थूल जगत के रूप में परिवर्तित होकर काम करने लगें। इस अवस्था में भी उसका कार्य्यक्षेत्र तथा काम चलाने के ७ अंग और १६ मुख वे ही होते हैं जिन का उल्लेख इस से पूर्व जागृतावस्था के वर्णन में किया जा चुका है। इस अवस्था में, मनुष्यों को स्वप्नावस्था के सदृश, उसका काम बाहर नहीं अपितु भीतर ही हुआ करता है इसीलिए इस उपनिषद्वाक्य में उसे अन्तःप्रज्ञावाला कहा गया है अर्थात् उसकी प्रज्ञा भीतर ही काम करती हुई होती है और वह इस प्रकार अन्तःप्रज्ञ होने से सूक्ष्म का भोक्ता अर्थात् सूक्ष्मभूतों से काम लेनेवाला कहा और समझा जाता है। इस अवस्था में उसे तैजस कहा जाता है। प्राज्ञ और तैजस ये दोनों शब्द निरुक्त में आत्म (भीतरी)

गति के लिए प्रयुक्त हुए हैं। अर्थात् आत्मा (परमेश्वर) अपनी गति को भीतर काम देने में प्रयोग कर रहा है। यह ईश्वर का दूसरा पाद कहा जाता है ॥ ४ ॥

यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम् । सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥ ५ ॥

अर्थ—(यत्र) जब (सुप्तः) सोया हुआ (मनुष्य) (कञ्चन) किसी (कामम्) कामना को (न, कामयते) नहीं चाहता (कञ्चन) किसी (स्वप्नम्) स्वप्न को (न, पश्यति) नहीं देखता (तत्) वह (सुषुप्तम) सुषुप्त अवस्था है। (सुषुप्त, स्थानः) सुषुप्त स्थान वाला (एकीभूतः) अपने स्वरूप में स्थित (प्रज्ञान, घन) उत्कृष्ट ज्ञानस्वरूप (एव) ही (आनन्दमयः) आनन्दमय (हि) निश्चय (आनन्दभुक्) आनन्दभोक्ता (चेतोमुखः) चेतनारूप मुखवाला (प्राज्ञ) विशेष प्रज्ञा वाला (तृतीयः) तीसरा (पादः) पाद है ॥ ५ ॥

व्याख्या—मनुष्य की सुषुप्तावस्था में जिस प्रकार न इन्द्रिय-व्यापार होता है, न मन का कुछ काम जारी रहता है केवल आत्मा

---

१ प्राज्ञश्चात्मा तैजसश्चेत्यात्मगतिमाचष्टे ॥

(निरुक्त १ २ । ३७)

अर्थात् प्राज्ञ और तैजस शब्द आत्मगति और उसकी सत्यता की दो अवस्थाओं को प्रकट करते हैं।

काम करता है और वह इच्छारहित अपने आप (कारणशरीर) में निमग्न होता है इसीप्रकार ब्रह्म की सुपुप्तावस्था वह है जिसमें न स्थूल जगत होता है न सूक्ष्म भूत। इसीलिए इन में, उसका जो काम, सर्वव्यापकत्व से होता है, बन्द रहता है और उसका कार्य्य-क्षेत्र केवल कारणरूप प्रकृति होती है और उसीमें उसका काम जारी रहता है।

यहां यह बात समझ लेने के योग्य है कि महाप्रलयावस्था में यह नहीं होता है कि प्रकृति के भीतर कुछ काम न होता हो। जिस प्रकार कोई खेत कसरतेपैदावार से आगे पैदावार करने के अयोग्य हो जाता है तब कृषक उसे कई वर्ष तक खाली पड़ा रहने देता है। इस खाली पड़े रहने के काल में खेत का काम बन्द नहीं रहता उसके अणु और परमाणु अपनी खोई हुई शक्तिको, अपने भीतर लाते रहते हैं इसी प्रकार प्रकृति के सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणुओं के भीतर भी विकृत होकर जगत् को उत्पन्न करनेकी योग्यता, ईश्वर के उसमें व्यापकत्व और उसके स्वाभाविक ज्ञान और क्रिया से बराबर आती रहती है। अस्तु, सुषुप्तावस्था में, ब्रह्म की समस्त शक्तियां, उसी (कारणरूप प्रकृति) में केन्द्रित होती है और वह स्वयं प्रज्ञानघन अर्थात् अपने भावों और नियमों का रूप होकर आनन्द में रहता हुआ अपने चेतनामयस्वरूप से आनन्द ही का भोक्ता समझा और कहा जाता है और इसीलिए इस अवस्था में उसका नाम प्राज्ञ अर्थात् विज्ञानरूप होता है। यह ब्रह्म का तीसरा पाद कहा जाता है।

तात्पर्य इस मन्त्र का यह है कि महाप्रलयावस्था में ईश्वर स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के भूतों की दृष्टि से अव्यक्त होता है और कारणरूप प्रकृति को, शक्ति प्रदान करता हुआ अपने सच्चिदानन्दस्वरूप में स्थित रहता है ॥ ५ ॥

एष सर्वेश्वर एव सर्वज्ञ एषोऽन्तर्य्याम्येव योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥ ६ ॥

अर्थ—(एषः) यह (ओम्) (सर्वेश्वरः) सब का स्वामी (एषः) वह (सर्वज्ञः) सब का ज्ञाता (एष, अन्तर्यामी) यह अन्तर्यामी (हि) निश्चय (एषः) यह (सर्वस्य भूतानाम्) समस्त भूतों, पदार्थों के (प्रभवाप्ययौ) उत्पत्ति और विनाश का (योनिः) कारण है ॥ ६ ॥

व्याख्या—जिस ईश्वर की चर्चा उपनिषद् के उपर्युक्त वाक्यों में की गई, उपनिषद् के इस वाक्य में, उसी की महिमा प्रकट की गई है, अर्थात् वह ईश्वर सब का स्वामी सर्वज्ञ सर्वान्तर्यामी और समस्त सूक्ष्म और स्थूल भूतों की उत्पत्ति और विनाश का निमित्तकारण है ॥ ६ ॥

नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्य्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्म्य-प्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥ ७ ॥

अर्थ—(न, अन्तः प्रज्ञम) न भीतर की ओर प्रज्ञा=बुद्धि

वाला (न, बहि:, प्रज्ञम्) न बाहर की ओर प्रज्ञा वाला (न उभयत:, प्रज्ञम्) न (भीतर और बाहर) दोनों ओर प्रज्ञा वाला (न, प्रज्ञान, घनम्) न उत्कृष्ट प्रज्ञा वाला (न, प्रज्ञम) न प्रज्ञा वाला (न, अप्रज्ञम) न प्रज्ञारहित (अदृष्टम्) अदृष्ट (अव्य-वहार्य्यम) व्यवहार में आने के अयोग्य (अग्राह्यम्) अग्राह्य (अलक्षणम्) जिसका लक्षण न हो सके (अचिन्त्यम्) अचिन्त्य (अव्यपदेश्यम्) अनिर्वचनीय (एकात्मप्रत्ययसारम्) एकात्म-प्रत्ययसार अर्थात वह केवल आत्मा है यही प्रतीति जिसके सार है (प्रपञ्चोपशमम्) प्रपंच (जागृतादि अवस्थायें) जहां शांत हो जाते हैं (शान्तम्) शान्त (शिवम्) आनन्दमय (अद्वैतम्) अतुलनीय (चतुर्थम्) चौथा (तृतीय) पाद (मन्यन्ते) मानते हैं (स:) वह (आत्मा) आत्मा है और (स, विज्ञेय:) वह जानने के योग्य है ॥ ७ ॥

व्याख्या—अब जीवात्मा की तुरीयावस्था का वर्णन इसलिए किया जाता है जिससे ब्रह्म की चतुर्थावस्था (चौथा पाद) समझा जा सके। जीवात्मा पहली तीन अवस्थाओं में स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों में काम किया करता है परन्तु उसकी चतुर्थ तुरीया-वस्था वह होती है जिसमें इन तीनों शरीरों का अभाव हुआ करता है। इस अवस्था में उसके लिए कहा गया है कि यह अन्त:प्रज्ञ नहीं क्योंकि सूक्ष्म शरीररहित है। वह बहि:प्रज्ञ अर्थात् सूक्ष्म शरीर से बाहर प्रज्ञावाला भी नहीं है क्योंकि स्थूल शरीर भी नहीं होता और इसी लिए वह एक साथ दोनों प्रज्ञावाला भी नहीं

होसकता। वह उत्कृष्ट प्रज्ञावाला(प्रज्ञानघन)भी नहीं क्योंकि कारण शरीर से भी सम्बन्धरहित है, वह वाह्य जगत का न जानने वाला है और न न जाननेवाला है क्योंकि वह अब उस (आत्मा से वाह्य जगत) के समस्त सम्बन्धों से परे है। वह देखा नहीं जा सकता क्योंकि इस व्यवहार से वह परे हो चुका है उसे कोई पकड़ (ग्रहण) नहीं सकता क्योंकि कर्मेन्द्रियों के व्यवहार से भी वह परे है। उसका कोई लक्षण नहीं कर सकता क्योंकि वह चिह्न रहित है। उसका कोई चिन्तन भी नहीं कर सकता क्योंकि वह मन की सीमा से भी बाहर हो चुका है। निष्कर्ष यह है कि इस (तुरीय) अवस्था में जीव अनिर्वाच्य होता है उसे शब्दों की सीमा में नहीं लाया जा सकता, अब वह केवल आत्मा है, बस इतना ही अब उसको ज्ञान है। वह प्रपञ्च जो पहली तीन अवस्थाओं में था अब शान्त है।

यहां तक जीव की उल्लिखित तुरीयावस्था के उदाहरण से ब्रह्म की तुरीय-अवस्था समझनी चाहिए। इस अवस्था में ब्रह्म स्थूल और सूक्ष्म भूतों के अभाव से न वहि:प्रज्ञ होता है, न अन्त:प्रज्ञ और न एक साथ इन दोनों प्रज्ञाओंवाला है। वह प्रज्ञानघन भी नहीं क्योंकि अपने स्वरूप से ब्रह्म, कारण जगत (प्रकृति) से भी परे होता है। वह जगत के अभाव से न उसका ज्ञाता हो सकता है न अज्ञाता। जिस प्रकार जगत में उसके गुणों द्वारा ज्ञान-दृष्टि से उसे देखा जाता, व्यवहार में लाया जाता, ग्रहण और चिन्तन किया जाता है अब इन सब से वह परे है और इसी

लिए इस अवस्था में अनिर्वाच्य कहा और माना जाता है। अब वह केवल आत्मा (ब्रह्म) है बस यही प्रतीति अब उसका ज्ञान है। वह प्रपञ्च (जगद्रचना, कर्मफलदातृत्व आदि के रूप में जो जगत की स्थिति में, पहली तीन अवस्थाओं में थे) अब शान्त है। इस अवस्था में शान्त, शिव और अद्वैत ब्रह्म का चौथा पाद माना जाता है—यही ब्रह्म का असली स्वरूप है और जानने के योग्य है। जहां प्रथम की तीन अवस्थाओं का वर्णन विधि-भाव से होता है वहां चतुर्थ तुरीयावस्था का वर्णन सदैव निषेधमुख (नेति नेति) से हुआ करता है ॥ ७ ॥

सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ॥ ८ ॥

अर्थ—(सः) वह (अयम्) यह (आत्मा) आत्मा (अधि, अक्षरम्) अक्षर में अधिष्ठित है और वह अक्षर (ओंकार) ओंकार है और वह ओंकार (अधि, मात्रा) मात्राओं में अधिष्ठित है (पादः, मात्राः) पाद मात्रा हैं (च) और (मात्राः, पादः,) मात्रा पाद हैं (अकार उकार, मकार, इति) (और वे मात्रा) अकार, उकार और मकार हैं ॥ ८ ॥

व्याख्या—उपनिषद् के इस वाक्य में वाचक-वाच्य, नाम और नामी का अभेद दिखलाया गया है। वाक्य का भाव निम्न चित्र से भली भांति हृदयांकित होगा—चित्र में ब्रह्म के साथ उसके पाद और ओंकार के साथ उसकी मात्रायें दिखलाई गई हैं:—

		ब्रह्म के ४ पाद			
(१)	नामी ब्रह्म (आत्मा)	जागृतमें वैश्वानर	स्वप्नमें तैजस	सुषुप्तिमें प्राज्ञ	तुरीयामें आत्मा
		ओंकार की मात्रायें			
(२)	नाम ओंकार	अकार	उकार	मकार	अमात्र

अर्थात् वह आत्मा ओंकार है और ओंकार वह मात्रा (ब्रह्म) है—ब्रह्म के ४ पाद‡ ओंकार की मात्रायें हैं और ओंकार की मात्रायें ब्रह्म के ४ पाद हैं ॥ ८ ॥

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राप्तेरादिमत्त्वा-द्वाप्नोति ह वै सर्वान् कामानादिश्च भवति य एवं वेद ॥९

अर्थ—(जागरित स्थानः) जाग्रत अवस्था स्थानवाला (वैश्वानरः) वैश्वानर नाम वाला (जो पहला पाद है वही) (अकारः) अकार (प्रथमा मात्रा) ओंकार की पहिली मात्रा है । (आप्तेः) उसके व्याप्त होने (या) (आदिमत्वात्) पहला होने से (ह, वै) निश्चय (यः) जो (एवंवेद) (उसे) इस प्रकार जानता है (सर्वान् कामान्) सब कामनाओं को (आप्नोति) प्राप्त करता है (च) और (आदिः) अगुआ (भवति) होता है ॥ ९ ॥

---

‡ मात्रा वह है जो मापे या परिमाण बतलाये

(उणादिकोष ४ । १६८)

व्याख्या—इससे पहले वाक्य में जो ओंकार और ब्रह्म की अभेदता दिखलाई गई है अब इस वाक्य से उसमें प्रयुक्त एक एक मात्रा और एक एक पाद का अभेद दिखलाना शुरू किया गया है। ब्रह्म का पहला पाद जागृतस्थानी वैश्वानर है और ओंकार की पहली मात्रा अकार है—तो नाम और नामी की अभेदता के सिद्धान्तानुसार वैश्वानर अकार है और अकार वैश्वानर है। इन दोनों की समता इस प्रकार है:—

(१) वैश्वानर स्थूल जगत के अभिमानी विराट आत्मा को कहते हैं अर्थात् वैश्वानर वह है जो जगत में सर्वत्र व्याप्त है इसीलिये इस वाक्य में उसके दो विशेषण दिये हैं:—(१) सर्वत्र प्राप्त होना (२) आदिम होना।

(२) अकार—'अ' आप धातु से है जिसके अर्थ प्राप्त होना है। वर्णमाला में 'अ' से अधिक व्यापक न कोई स्वर है और न व्यञ्जन, इसलिये इसका व्यापकत्व प्रत्यक्ष ही है। यह वर्णमाला का पहला अक्षर अथवा ओंकार की पहली मात्रा है इसलिये इसका आदिम (पहला) होना भी स्पष्ट है। इस प्रकार विचार करने से वैश्वानर और अकार की समता साफतौर से प्रकट हो जाती है। इनके सिवा वैश्वानर पहला पाद और अकार पहली मात्रा है इससे भी उनकी समता है।

वाक्यान्त में फलश्रुति कही गई है अर्थात् जो कोई ब्रह्म के पहले पाद वैश्वानर और ओंकार की पहली मात्रा अकार में अभेद जानकर उपासना करता है वह अपनी संपूर्ण कामनाओं

को प्राप्त करता है और जगत में अगुआ (मुखिया) भी बनता है ॥ ६ ॥

नोट—फलश्रुति अकार अथवा वैश्वानर के भावानुकूल ही है—असँबद्ध रीति से वर्णित नहीं हुई है ।

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्ततिं समानश्च भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद ॥ १० ॥

अर्थ—(स्वप्न स्थानः) स्वप्न स्थानवाला (तैजसः) तैजस नाम वाला (जो दूसरा पाद है वही) (उकारः) उकार (द्वितीया मात्रा) ओंकार की दूसरी मात्रा है (उत्कर्षात्) (उसके) उत्कृष्ट (वा) और (उभयत्वात) दोनों (प्रथमा और द्वितीया) होने से (ह, वै) निश्चय (यः) जो (उसे) (एवं, वेद) इस प्रकार जानता है वह (ज्ञानसन्ततिम्) ज्ञान के प्रवाह को (उत्कर्षति) बढ़ाता है (च) और (समानः) तुल्य (भवति) होता हैं (अस्य, कुले) इसके कुल में (अब्रह्मवित्) ब्रह्म का न जानने वाला (न, भवति) नहीं होता ॥ १० ॥

व्याख्या—स्वप्नस्थानी "तैजस" ब्रह्म का दूसरा पाद और उकार ओंकार की दूसरी मध्यवर्ती मात्रा है इनकी अभेदता का तात्पर्य्य यह है कि तैजस उकार और उकार तैजस है ।

तैजस और प्राज्ञ शब्द निरुक्तानुकूल जैसा कि कहा जा चुका है आत्मसत्ता की दो अवस्थाओं को प्रकट करते हैं । तैजस

वैश्वानर से उत्कृष्ट अवस्था है जैसे जगत से स्वप्न, इसलिये तैजस में उत्कृष्टता का भी भाव है और उभयता का भी, इसलिये कि वह वैश्वानर और प्राज्ञ दोनों पादों का मध्यवर्ती है। दूसरी ओर उकार भी उत्कर्ष तथा उभय से लिया गया है इसके भीतर भी इसीलिये ये दोनों भाव उपस्थित हैं इससे उकार और तैजस की समता साफतौर से प्रकट हो जाती है।

फलश्रुति वाक्यान्त में इस प्रकार वर्णित है कि जो कोई ब्रह्म के दूसरे पाद अथवा ओंकार की दूसरी मात्रा की अभेदता को लक्ष्य में रखकर, उपासना करता है उसमें ज्ञान की उत्कृष्टता और समता आती है। यह फल भी, स्पष्ट है कि, दूसरी मात्रा, अथवा दूसरे पाद के अर्थानुकूल ही हैं। ऐसे उपासक के गृह में कौन कह सकता है कि उसकी सन्तान ब्रह्मवित न होगी ॥ १० ॥

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदꣳ सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद ॥११॥

अर्थ—(सुषुप्तस्थानः) सुषुप्तस्थानवाला (प्राज्ञः) प्राज्ञ संज्ञा वाला (जो तीसरा पाद है वही) (मकारः) मकार (तृतीया मात्रा) ओंकार की तीसरी मात्रा है (मितेः) माप (च) और (अपीतिः) एकीभाव से (यः) जो (उसे) (एवं,वेद) इस प्रकार जानता है वह (इदम्, सर्वम्) इस सब को (मिनोति) माप लेता या यथार्थ ज्ञान प्राप्त करता है (च) और (अपीतिः) आत्ममय (भवति) होता है ॥ ११ ॥

व्याख्या–सुषुप्तस्थानी प्राज्ञ ब्रह्म का तीसरा पाद है और मकार ओंकार की तीसरी मात्रा है जिसका भाव यह है कि प्राज्ञ मकार है और मकार प्राज्ञ है। 'म्' मा धातु से है जिसके अर्थ मापना है। प्राज्ञ, तैजस और विश्व सृष्टि की, अन्तिम गति है अर्थात् उससे समस्त जगत् की माप होती है और इसीलिये इस के भीतर प्रलय का भाव भी निहित है। इसी प्रकार मकार ओंकार की समाप्ति सूचक मात्रा और अन्य मात्राओं का लयस्थान हैं। उच्चारण में भी जहां अकार उकार से मुह खुलता हैं वहां मकार से बन्द होजाता है इससे दोनों (तृतीय पाद और तृतीय मात्रा) की समता और अभेदता प्रकट होती हैं।

फलश्रुति में कहा गया है कि जो कोई इस मान और दोनों (पाद और मात्रा) के एकीभाव को लक्ष्य में रख कर उपासना करता है वह इस समस्त ब्रह्मांड को माप अर्थात् उसका ज्ञान प्राप्त कर लेता है और वह लय का स्थान भी होता है अर्थात् समस्त प्राकृतिक संसार (शरीरों) को पार करके अन्तर्मुखी होता हुआ आत्मामय हो जाती है॥ ११॥

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्य्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद य एवं वेद॥ १२॥

अर्थ—(चतुर्थः) चौथा पाद (अमात्रः) मात्रारहित

(अव्यवहार्यः) व्यवहार के अयोग्य (प्रपञ्चोपशमः) प्रपञ्च-रहित (शिव) कल्याणरूप (अद्वैतः) अद्वितीय (एवम्, ओंकार) इस प्रकार ओंकार (आत्मो, एव) आत्मा ही है। (यः) जो (उसे) (एवं, वेद) इस प्रकार जानता है वह (आत्मना) आत्मा के द्वारा (आत्मानम्) परमात्मा में (संविशति) प्रवेश करता हैं ॥ १२ ॥

व्याख्या—यह चतुर्थ तुरीय पाद है जहां कथन की सीमा में आने वाले विधि मुख की समाप्ति हो जाती है और उसका वर्णन केवल निषेध मुख से किया जाता है जैसा कि कहा जा चुका है। इस वाक्य में इसीलिये चौथे पाद की तुलना में ओंकार को अमात्र कहा गया है; उसका भाव यह है कि यहां ओंकार रूप शब्द वाचक नाम, अथवा संज्ञा की समाप्ति हो जाती है और इस अवस्था में मनुष्य का आत्मा, नामी, वाच्य, अर्थ अथवा संज्ञी का साक्षात्कार कर लिया करता है। इसलिए इस वाक्य में इस अवस्था को, बोल चाल के व्यवहार में आने के अयोग्य प्रकट करते हुए प्रपञ्चोपशम कहा गया है। प्रपञ्च दृश्यमान जगत को कहते हैं। तात्पर्य यह है कि यहां (तुरीयावस्था में) व्यक्त और अव्यक्त सभी प्रकार के जगत के झगड़े समाप्त हो जाते हैं। त्रिमात्र ओंकार भी तुरीय के द्वार पर पहुँच कर अमात्र रह जाता है इस लिए इस अवस्था को कल्याणमयो अद्वितीय अवस्था कहते हैं।

निष्कष यह है की ओंकार वह आत्मा (ब्रह्म) ही है। जो इस प्रकार ओंकार को आत्मा (ब्रह्म) और आत्मा (ब्रह्म) को

ओंकार समझते हुए उपासना करता है वह जीवात्मा के द्वारा परमात्मा में प्रवेश करता है। "य एवं वेद" का दुबारा पाठ ग्रंथ की समाप्ति का सूचक है ॥ १२ ॥